Multidisciplinary Multilingual Research Journal, e-ISSN: 3107-8141
October-December 2025 | Volume: 01, Issue: 02, Page No.: 01-06
https://doi.org/10.64006/mmrj/1201

ORIGINAL ARTICLE |Received:08th August 2025 | Revised:21st October 2025 | Accepted:30th October 2025 | Published:18th December 2025

प्राचीन भारतीय धार्मिक ग्रंथों में स्त्री का स्थान और अधिकार: एक विश्लेषण

धर्मेंद्र कुमार[1]

सारांश

यह शोध प्राचीन भारतीय धार्मिक ग्रंथों में स्त्री की स्थिति और अधिकारों का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करता है। ऋग्वैदिक काल में स्त्रियाँ विदुषी और ऋषिका के रूप में शिक्षा, यज्ञ और दार्शनिक विमर्श में सक्रिय थीं। गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा जैसी ब्रह्मवादिनियों ने तत्कालीन समाज में स्त्री की विद्वत्ता और स्वतंत्रता को स्थापित किया। विवाह संस्था में स्त्रियों को स्वयंवर का अधिकार था और संपत्ति में स्त्रीधन जैसी अवधारणाएँ उनके अधिकारों को दर्शाती थीं। परंतु उत्तरवैदिक और ब्राह्मणिक काल में स्त्रियों की स्वतंत्रता क्रमशः सीमित होती गई। मनुस्मृति जैसे ग्रंथों ने स्त्री को पुरुष-निर्भर और पराश्रित रूप में परिभाषित किया। विवाह, शिक्षा और उत्तराधिकार में उनके अधिकार संकुचित हो गए। इसके विपरीत बौद्ध और जैन परंपराओं ने स्त्रियों को मोक्षमार्ग का अधिकारी माना और भिक्षुणी संघ तथा साध्वी परंपरा ने उन्हें धार्मिक और सामाजिक जीवन में सक्रिय भागीदारी का अवसर दिया। इस प्रकार स्त्री की स्थिति समय और परंपरा के अनुसार बदलती रही|

कीवर्ड्स:स्त्री का स्थान, स्त्री अधिकार, वैदिक साहित्य, धार्मिक ग्रंथ, मनुस्मृति, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सामाजिक संरचना, पितृसत्ता, मोक्षमा

This article is published under the **Creative Commons Attribution–Non-commercial (CC BY-NC) License**. Readers are free to share, adapt, and reproduce the material for non-commercial purposes, with appropriate credit to the author(s) and the source. Permission is required for any commercial use.

प्राचीन भारतीय समाज में स्त्री का स्थान और भूमिका बहुआयामी रही है, जो समय, स्थान और समाजिक संरचना के आधार पर लगातार बदलती रही। प्राचीन साहित्य, महाकाव्य, धर्मशास्त्र और पुराणों में स्त्री को कभी देवी, कभी मातृसत्तात्मक शक्ति, तो कभी अपमानित और दीन-हीन प्राणी के रूप में प्रस्तुत किया गया। हालांकि, एक स्थायी परंपरा और सामाजिक धारा के रूप में, भारतीय समाज में स्त्री को पुरुष के अधीन समझा जाता था, लेकिन इसके बावजूद वह अपने ज्ञान, शक्ति और साहस से समाज के विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही।

ऋग वैदिक काल को स्त्रियों की सशक्त उपस्थिति और स्वतंत्र सामाजिक भूमिका के लिए स्मरण किया जाता है। ऋग्वेद में स्त्रियों को 'नारी' नहीं बल्कि 'विदुषी' और 'ऋषिका' के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो समाज के बौद्धिक और धार्मिक विमर्शों में सक्रिय थीं। उन्हें केवल यज्ञों की सहयोगिनी नहीं, बल्कि यजमानी और ऋचाओं की रचयिता के रूप में भी स्वीकार किया गया।

ऋग्वेद में अनेक ऋषिकाओं के नाम मिलते हैं, जिन्होंने अपनी सूक्तियाँ स्वयं रचीं—जैसे घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, विश्ववारा, इंदिरा, शची आदि। घोषा ने स्वास्थ्य और सौंदर्य की कामना से मंत्र रचे, जबकि लोपामुद्रा ने ऋषि अगस्त्य से संवाद कर स्त्री की इच्छाओं और अधिकारों को स्वर दिया। अपाला ने स्वयं को शारीरिक विकृति से पीड़ित होते हुए भी ब्रह्म की साधिका के रूप में प्रस्तुत किया। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ केवल घरेलू जीवन तक सीमित नहीं थीं, बल्कि आध्यात्मिक और दार्शनिक चिंतन की सहयात्री थीं।

शिक्षा के संदर्भ में भी वैदिक स्त्रियाँ पुरुषों के समान अधिकार रखती थीं। 'उपनीयन' संस्कार, जो शिक्षा का प्रारंभिक संस्कार था, वह स्त्रियों को भी दिया जाता था। कुछ स्त्रियाँ ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं—अर्थात वे जो

[1] शोधार्थी, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, रांची विश्वविद्यालय, रांची. dhamendra1980kr@gmail.com

How to cite: कुमार, ध. (2025). प्राचीन भारतीय धार्मिक ग्रंथों में स्त्री का स्थान और अधिकार: एक विश्लेषण. *Multidisciplinary Multilingual Research Journal, 1*(2), 1–6. https://doi.org/10.64006/mmrj/1201

आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन कर विद्या-अर्जन और वैदिक साधना में लगी रहती थीं। दूसरी ओर 'सधवा' स्त्रियाँ विवाहोपरांत पति के साथ धार्मिक जीवन में सक्रिय होती थीं। गार्गी और मैत्रेयी जैसी ब्रह्मवादिनियों ने तत्कालीन दार्शनिक विमर्श को चुनौती दी। गार्गी ने याज्ञवल्क्य से याज्ञिक सभा में ब्रह्मज्ञान पर शास्त्रार्थ किया, जो नारी की तात्त्विक मेधा का उदाहरण है।

विवाह संस्था भी वैदिक युग में अपेक्षाकृत स्वतंत्र और लचीली थी। स्त्री को वर चुनने का अधिकार था, जिसे 'स्वयंवर' कहा जाता था। विवाह को एक धार्मिक अनुष्ठान माना गया, जिसमें पति-पत्नी समान भागीदार होते थे। विवाह मंत्रों में यह भावना स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, जैसे–"साम्राज्ञी श्वश्रुषु त्वम्..." (तू सास के घर की रानी हो)। यह मंत्र नारी की गरिमा और सामाजिक अधिकार की पुष्टि करता है।

संपत्ति और उत्तराधिकार के संदर्भ में भी प्रारंभिक वैदिक ग्रंथों में स्त्रियों को अधिकार प्राप्त था। वह 'दायभाग' की उत्तराधिकारी बन सकती थी और उसे 'स्त्रीधन' का अधिकार प्राप्त था। हालांकि यह अधिकार सीमित और परिवर्तनीय था, परंतु यह वैदिक समाज की अपेक्षाकृत उदार प्रवृत्ति का संकेत देता है।

वैदिक युग की स्त्री धार्मिक अनुष्ठानों में केवल सजावटी उपस्थित नहीं थी, वह 'पति सहधर्मिणी' के रूप में कार्यरत थी। यज्ञ में उसका बैठना आवश्यक माना गया, और कई मन्त्रों में उसे यज्ञ की विधायिनी के रूप में सम्मानित किया गया है। वस्तुतः वैदिक काल में स्त्रियाँ सामाजिक, दार्शनिक और धार्मिक जीवन की सक्रिय सहभागी थीं और उन्हें समाज में समानता, गरिमा और सम्मान प्राप्त था।

यदि ऋग्वैदिक काल में स्त्री स्वतंत्रता, विद्वता और धार्मिक भागीदारी की प्रतीक थी, तो उत्तरवैदिक काल में उसकी भूमिका क्रमशः सीमित, संकीर्ण और पुरुष-आधीन होती गई। यह काल आर्य सामाजिक व्यवस्था के कठोर वर्गीकरण, पितृसत्तात्मक मूल्यों के सुदृढ़ीकरण और धर्मशास्त्रीय अनुशासन के विकास का समय था–जिसका सीधा प्रभाव स्त्रियों की स्वतंत्रता पर पड़ा।

ब्राह्मण ग्रंथों में स्त्रियों को वैदिक शिक्षा से वंचित किए जाने की प्रवृत्ति दिखने लगती है। जहाँ प्रारंभिक काल में ब्रह्मवादिनियाँ शिक्षा ग्रहण करती थीं, वहीं इस काल में स्त्रियों को वेदपाठ के अयोग्य समझा जाने लगा। 'उपनीयन' संस्कार, जो शिक्षा का द्वार था, स्त्रियों के लिए धीरे-धीरे निषिद्ध होता गया। ब्राह्मण ग्रंथों में यह धारणा उभरती है कि स्त्रियों का कर्तव्य गृहस्थी का पालन, पतिव्रता धर्म का निर्वाह और संतानोत्पत्ति तक सीमित होना चाहिए। शिक्षा, ज्ञान और तप की जो स्वतंत्रता ऋग्वेद में दिखाई देती थी, वह अब धर्मशास्त्रीय नियमों में सीमित कर दी गई।

मनुस्मृति जैसे विधि ग्रंथ इस काल की स्त्री दृष्टि को संस्थागत रूप देते हैं। मनु का प्रसिद्ध वाक्य–"न स्त्रीस्वातंत्र्यमर्हति" (स्त्री को स्वतंत्रता का अधिकारी नहीं होना चाहिए)–इस युग की मानसिकता को स्पष्ट करता है। एक अन्य वचन में वह कहता है–"पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने, पुत्रः रक्षति वार्धके"—यहाँ स्त्री को जीवन के हर चरण में पुरुष की छाया में रहने की उपदेशात्मक छूट दी गई। यह सामाजिक संरचना न केवल स्त्री की स्वतंत्रता को सीमित करती है, बल्कि उसे एक पराश्रित, निर्भर और दायित्वबद्ध अस्तित्व में बदल देती है।

विवाह संस्था भी इस काल में कठोर, अनिवार्य और एक प्रकार से स्त्री के जीवन का एकमात्र नैतिक विकल्प बन गई। "अविवाहिता स्त्री धर्माचरण की अधिकारी नहीं"—यह धारणा स्त्रियों को विवाह के बिना अधूरी मानती है। विवाह में भी कन्या की सहमति गौण होती चली गई, और विवाह एक 'दान' के रूप में देखा जाने लगा–'कन्यादान'। इस प्रक्रिया में कन्या स्वयं निर्णय लेने वाली नहीं, बल्कि भेंटस्वरूप वस्तु के रूप में प्रस्तुत की जाती थी। बाल विवाह की परंपरा भी इसी काल में जड़ें जमाने लगीं, जिससे स्त्रियाँ मानसिक, शारीरिक और बौद्धिक विकास के अवसरों से वंचित हो गईं।

How to cite: How to cite: कुमार, ध. (2025). प्राचीन भारतीय धार्मिक ग्रंथों में स्त्री का स्थान और अधिकार: एक विश्लेषण. *Multidisciplinary Multilingual Research Journal,* 1(2), 1–6. https://doi.org/10.64006/mmrj/1201

संपत्ति के अधिकार में भी स्त्रियों की स्थिति कमजोर होती चली गई। यद्यपि 'स्त्रीधन' की अवधारणा थी, लेकिन वह पति या पुत्र के संरक्षण में रहा करता था। अधिकांश मामलों में उत्तराधिकार से स्त्रियाँ वंचित रहीं। केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही उन्हें सीमित संपत्ति रखने की अनुमति थी, और उसका भी प्रबंधन पुरुष करता था। विधवा स्त्रियाँ संपत्ति की उत्तराधिकारी तो हो सकती थीं, परंतु समाज उन्हें जीवन भर शोक और संयम के साथ जीने का आदेश देता था।

धार्मिक क्षेत्र में स्त्रियों की सहभागिता अत्यल्प हो गई। यज्ञों, व्रतों, और अनुष्ठानों में उनकी भागीदारी केवल औपचारिक रह गई। उन्हें अब वेद पाठ, उपनयन और ब्रह्मचर्य से दूर रखा जाने लगा। कुछ ग्रंथों में तो स्त्री को अधार्मिक, अपवित्र और मोहजनक भी कहा गया—जो साधकों के लिए बाधक है। स्त्रियों की आध्यात्मिकता को पुरुष की सेवा में समर्पित रहने और अपने शरीर की शुद्धता बनाए रखने तक सीमित कर दिया गया।

तथापि यह कहना कि इस काल में सभी स्त्रियाँ असहाय थीं, ऐतिहासिक सरलीकरण होगा। कुछ क्षेत्रों में, विशेषतः ग्रामीण और जनजातीय समाजों में स्त्रियाँ पारिवारिक निर्णयों में भागीदारी करती थीं, परंतु मुख्यधारा की शास्त्र-आधारित संस्कृति ने उन्हें निर्णायक सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक भूमिकाओं से धीरे-धीरे बाहर कर दिया।

इस प्रकार उत्तरवैदिक एवं ब्राह्मणिक काल स्त्री के अधिकारों के संकुचन और सामाजिक पदावनति का काल रहा। यह वह समय था जब वैदिक काल की 'स्वतंत्र विदुषी' धीरे-धीरे 'पतिव्रता' और 'पितृनियंत्रित' नारी में रूपांतरित होती है। धार्मिक विधानों, सामाजिक रीति-नीतियों और विवाह के अनुशासनों के माध्यम से स्त्रियों को एक निश्चित दायरे में बाँध दिया गया, जिससे उनका बौद्धिक, सामाजिक और आत्मिक विकास अवरुद्ध हो गया।

बौद्ध और जैन परंपराओं का उद्भव वैदिक पितृसत्तात्मकता के विरुद्ध एक नैतिक और दार्शनिक विद्रोह के रूप में हुआ, जिसने भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति पर भी गहरा प्रभाव डाला। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में जब गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी ने धर्म और मोक्ष के लिए वर्ण और लिंग से परे एक आंतरिक पथ का प्रस्ताव किया, तब स्त्रियों को भी आध्यात्मिक साधना की नई संभावनाएँ प्राप्त हुईं। यह युग स्त्रियों को ब्रह्मचर्य, संन्यास और ध्यान के माध्यम से आत्मनिर्माण का एक वैकल्पिक मार्ग उपलब्ध कराता है, जो वैदिक-ब्राह्मणिक परंपरा में दुर्लभ होता जा रहा था।

गौतम बुद्ध के समकालीन समाज में स्त्रियों की दशा साधारणतः उपेक्षित और अधीन थी। परन्तु बुद्ध ने समाज में व्याप्त अनेक सामाजिक कुरीतियों को चुनौती दी, जिनमें स्त्रियों की हीन स्थिति भी सम्मिलित थी। यद्यपि प्रारंभ में बुद्ध ने स्त्रियों के संघ में प्रवेश को अस्वीकार किया, परंतु अपनी पालिता माता महाप्रजापति गौतमी और अन्य स्त्रियों की अनवरत प्रार्थनाओं के फलस्वरूप उन्होंने स्त्रियों को भी भिक्षुणी संघ में स्थान दिया। यह घटना केवल धार्मिक दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि सामाजिक और नारीमुक्ति की दृष्टि से भी अत्यंत क्रांतिकारी थी।

भिक्षुणी संघ में स्त्रियाँ न केवल संयमित जीवन जीती थीं, बल्कि वे उपदेश, ध्यान, साधना और धर्म प्रचार में भी संलग्न रहती थीं। थेरिगाथा, जो भिक्षुणियों द्वारा रचित बौद्ध ग्रंथ है, स्त्रियों की आत्मिक यात्रा, जीवन संघर्ष और बौद्ध साधना का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करता है। इस ग्रंथ में विशाखा, अंबपाली, भद्रकपाली, रूपनंदा आदि अनेक स्त्रियाँ मिलती हैं, जिन्होंने सांसारिक बंधनों से ऊपर उठकर बुद्ध के धर्ममार्ग को स्वीकार किया और आत्मज्ञान की साधिकाएँ बनीं। अंबपाली, जो एक नगरवधू थी, उसका बुद्ध के प्रति आकर्षण और फिर त्याग का निर्णय यह दर्शाता है कि बौद्ध धर्म स्त्री की सामाजिक पहचान से परे उसकी आत्मा की खोज को महत्व देता था।

बौद्ध दर्शन ने स्त्री को मोक्ष की पात्र माना—यह उस समय की धार्मिक मान्यताओं के लिए एक क्रांतिकारी विचार था। बौद्ध ग्रंथों में ऐसा कोई मत नहीं है कि स्त्री जन्म हीन है या स्त्री मोक्ष की अधिकारी नहीं है। तथागत ने

यह स्वीकार किया कि जैसे पुरुष, वैसे ही स्त्रियाँ भी आर्य अष्टांगिक मार्ग द्वारा निर्वाण प्राप्त कर सकती हैं। यह धारणा स्त्रियों को धर्म और मुक्ति के क्षेत्र में पुरुषों के समकक्ष रखती थी।

जैन धर्म ने भी स्त्रियों को मोक्षमार्ग का अधिकारी माना, यद्यपि श्वेतांबर और दिगंबर संप्रदायों में इस विषय पर मतभेद रहा। श्वेतांबर संप्रदाय यह मानता है कि स्त्री भी मोक्ष प्राप्त कर सकती है और वह तप, संयम, उपवास तथा वैराग्य के मार्ग पर अग्रसर हो सकती है। इस परंपरा में चेल्लणा, रजिमति, ब्रह्मी, सुंदरी जैसी अनेक जैन साध्वियाँ प्रसिद्ध हैं जिन्होंने कठोर तप और धर्मनिष्ठ जीवन से अपने युग में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया।

दूसरी ओर, दिगंबर संप्रदाय स्त्री को मोक्ष के लिए उपयुक्त नहीं मानता, क्योंकि उनके अनुसार पूर्ण दिगंबर अवस्था स्त्री के लिए संभव नहीं है। फिर भी जैन धर्म के नैतिक नियमों और तपश्चर्या ने स्त्रियों को सामाजिक मर्यादा, अनुशासन और धार्मिक क्रियाकलापों में भागीदारी का अवसर दिया। जैन ग्रंथों में अनेक स्थानों पर स्त्रियों की धार्मिक भूमिका, संयमशीलता और धर्मपरायणता का उल्लेख है।
बौद्ध और जैन काल में स्त्रियाँ केवल धार्मिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहीं, उन्होंने सामाजिक जीवन में भी सक्रिय भूमिका निभाई। अम्बपाली जैसे स्त्री चरित्र सामाजिक संरचनाओं की सीमाओं को लांघकर अपने नैतिक और धार्मिक जीवन के द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि स्त्री भी आत्मनिर्भरता और मोक्ष की पूर्ण अधिकारी हो सकती है। इसी प्रकार विशाखा, जो एक गृहिणी थी, ने समाज में धर्मप्रचार और संघ की सेवा को जीवन का लक्ष्य बनाया, जिससे वह बुद्ध के प्रिय भक्तों में गिनी गईं।

इस काल में स्त्रियों की शिक्षा, संगठन, साधना और सार्वजनिक सहभागिता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। उन्होंने मात्र पति-धर्म या मातृत्व तक सीमित न रहकर अपने अस्तित्व को साधना, विचार और आत्मशोधन के क्षेत्र में भी प्रतिष्ठित किया। यह वह युग था जब धार्मिक असहमति और आध्यात्मिक प्रयोग स्त्रियों के लिए भी संभावनाओं के द्वार खोल रहे थे।

बौद्ध एवं जैन परंपराएँ स्त्री के उस रूप को प्रतिष्ठित करती हैं जो सोचने, साधने, त्याग करने और मार्गदर्शन देने की क्षमता रखती है। यह काल वैदिक बंधनों से बाहर निकलकर स्त्री की आध्यात्मिक चेतना के नवोन्मेष का युग है, जहाँ उसे धर्म की सीमा में रहते हुए भी स्व-अनुशासन और मोक्ष की यात्रा का संपूर्ण अधिकार प्राप्त था।

प्राचीन भारतीय साहित्य के महाकाव्य—रामायण और महाभारत, तथा पुराणों और स्मृतियों में स्त्री की छवि बहुआयामी, विरोधाभासी और सांस्कृतिक रूप से निर्णायक बनकर उभरती है। इन ग्रंथों में स्त्रियाँ कभी आदर्श, त्यागमयी और श्रद्धेय रूप में दिखाई देती हैं, तो कभी वासना, माया और पतन की कारक के रूप में भी। यह युग सामाजिक मूल्य-व्यवस्थाओं, धार्मिक अनुशासनों और पौराणिक कल्पनाओं के अंतर्गत स्त्री को एक ऐसे विमर्श का केंद्र बना देता है जहाँ उसका हर रूप या तो अनुकरणीय है या चेतावनीस्वरूप। इस खंड में हम इन ग्रंथों में स्त्री की भूमिका, उसकी स्थिति, अधिकार, संघर्ष और आदर्श का गहन विश्लेषण करेंगे।
रामायण में सीता का चरित्र भारतीय नारीत्व की आदर्श प्रतीक के रूप में चित्रित हुआ है—पत्नीत्व, पतिव्रता धर्म, सहनशीलता और त्याग की प्रतिमूर्ति। किंतु उसी आदर्श के भीतर एक गहन पीड़ा और अन्याय भी निहित है। सीता को अग्निपरीक्षा देनी पड़ती है, वह गर्भवती होते हुए भी वनवास भेजी जाती है, और अंततः वह धरती में समा जाती है। इस त्रासदी में स्त्री की सामाजिक असुरक्षा, सार्वजनिक मान्यता पर आधारित प्रतिष्ठा और पुरुष-संयंत्रित न्याय व्यवस्था का अनावरण होता है। सीता का जीवन यह संकेत देता है कि पवित्रता और पतिव्रता स्त्री के लिए केवल गुण नहीं, बल्कि एक दमनकारी सामाजिक परीक्षा का उपकरण भी बन सकता है।

महाभारत में द्रौपदी का चरित्र और भी जटिल है। वह विदुषी है, यशस्विनी है, परंतु उसे जुए में दांव पर लगाया जाता है, सभा में अपमानित किया जाता है, और फिर भी वह प्रतिशोध, विवेक और धर्म की शरण लेकर संघर्षरत रहती है। द्रौपदी केवल एक पीड़िता नहीं, बल्कि वह विद्रोह का भी स्वर है। वह धर्म को चुनौती देती है, पुरुषों की

मौन सहमति का पर्दाफाश करती है और न्याय की पुकार करती है। महाभारत की अन्य स्त्रियाँ—गांधारी, कुंती, सुभद्रा, उलूपी, चित्रांगदा आदि—भी समाज में स्त्री की विविध भूमिकाओं और आंतरिक द्वंद्व को प्रतिबिंबित करती हैं। कुंती अपने पुत्रों को अकेले पालती है, गांधारी पति की सेवा में स्वयं को अंधा कर लेती है, परंतु युद्ध और प्रतिशोध की आग में जलती भी रहती है।

पुराणों में स्त्रियों की भूमिकाएँ पौराणिक कल्पनाओं से ओतप्रोत हैं। वे कभी देवी के रूप में पूजनीय हैं—जैसे लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा—तो कभी असुरों की बहनें, माया और मोह की जननी। देवी दुर्गा स्त्री शक्ति की चरम अभिव्यक्ति हैं, जो ब्रह्मांड के अधर्म का अंत करती हैं, परंतु वहीं अहिल्या, तारा, मंदोदरी, रंभा, उर्वशी जैसी स्त्रियाँ काम और पतन के प्रतीक रूप में चित्रित होती हैं। पुराणों में स्त्री का एक रूप वह है जो सृष्टि की संचालिका है, तो दूसरा रूप वह है जो तपस्वियों के ध्यान को भंग करती है।

स्मृति ग्रंथ, खासकर मनुस्मृति, स्त्रियों के लिए कठोर सामाजिक निर्देश स्थापित करते हैं। वे स्त्रियों को पराश्रित, अधीन और अनुशासित प्राणी के रूप में देखते हैं, जिनकी स्वतंत्रता से समाज में "अधर्म" उत्पन्न हो सकता है। मनु स्त्रियों की स्वतंत्रता को निषेध करता है और उनके लिए जीवन भर पुरुषों की संरक्षा अनिवार्य मानता है। उसके अनुसार स्त्री को अपने पति की सेवा, कुल मर्यादा की रक्षा और संतानोत्पत्ति के लिए ही उत्पन्न किया गया है। यद्यपि वह यह भी कहता है कि जहाँ स्त्री की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं—परंतु यह श्रद्धा स्त्री के आत्मनिर्णय या अधिकार के नहीं, बल्कि उसकी उपयोगिता और समर्पण के आधार पर होती है।

इस समस्त साहित्य में एक ओर तो स्त्रियाँ प्रेरणास्रोत, धर्मपत्नी, जननी और देवी रूप में प्रतिष्ठित होती हैं, दूसरी ओर वे दोष, पाप और पतन की कारण भी बनती हैं। यह द्वैध दृष्टिकोण भारतीय समाज के उस गहरे पितृसत्तात्मक मानस को उद्घाटित करता है, जहाँ स्त्री को आदर्श बनाने के साथ-साथ बंधन में भी जकड़ा जाता है। आदर्श स्त्री वही है जो चुप रहे, सहन करे, त्याग करे और पुरुष की इच्छाओं में विलीन हो जाए।

फिर भी इन ग्रंथों में कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जो स्त्री की संप्रभुता, विद्वता और अधिकार की झलक देते हैं। गार्गी, मैत्रेयी, सुलभा जैसी विदुषियाँ तर्क, ब्रह्मज्ञान और सामाजिक बहसों में पुरुषों के समकक्ष खड़ी होती हैं। उनके संवाद यह स्पष्ट करते हैं कि स्त्री को ज्ञान की पात्रता प्राप्त थी—परंतु यह पात्रता सामाजिक बहुमत नहीं, अपवाद बनकर ही रह गई।

इस प्रकार, महाकाव्य, पुराण और स्मृतियाँ हमें स्त्री की सामाजिक छवि का एक गूढ़ चित्र देती हैं—जहाँ वह शक्ति और शिकार, देवी और दासी, रचयिता और उपेक्षा की पात्र होती है। ये ग्रंथ एक ओर समाज की स्त्री-विरोधी धारणाओं को प्रतिबिंबित करते हैं, तो दूसरी ओर उसकी शक्ति और चेतना के संभावित उदय की झलक भी देते हैं। इसी द्वंद्व में भारतीय स्त्री का प्राचीन सामाजिक इतिहास आकार लेता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य, धर्म, और समाज में स्त्री का चित्रण बेहद जटिल और विविधतापूर्ण रहा है। यहाँ एक ओर जहाँ स्त्री को देवी, माँ, पत्नी, और जननी के रूप में उच्च स्थान दिया गया है, वहीं दूसरी ओर उसे सामाजिक और धार्मिक बंधनों में जकड़ा गया है। यह द्वंद्व प्राचीन काल से लेकर आज तक हमारे समाज की मानसिकता और संस्कृति में परिलक्षित होता है। प्राचीन काल में स्त्री का स्थान और भूमिका समाज, धर्म, राजनीति, और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में निरंतर बदलते रहे हैं।

प्राचीन भारत में, विशेषकर वैदिक और पौराणिक समय में, स्त्रियाँ धर्म, घर और परिवार के भीतर केंद्रित थीं। अधिकांश धार्मिक ग्रंथों और महाकाव्यों में स्त्रियाँ आदर्श पत्नी, मातर, और त्याग की मूर्तिमान छवियाँ बन कर सामने आती हैं। जैसे, रामायण और महाभारत में सीता और द्रौपदी के पात्र समाज की स्त्री के आदर्श रूपों के रूप में प्रस्तुत किए गए, जिनमें त्याग, समर्पण और उच्च नैतिकता की छवि है। इन पात्रों के माध्यम से प्राचीन समाज

ने स्त्री को सम्मान और पूजनीय माना, किंतु साथ ही उसे एक ऐसी स्थिति में रखा, जहाँ उसकी स्वतंत्रता और व्यक्तित्व पर निरंतर दबाव बना रहा।

इसके बावजूद, कुछ ऐसे महत्वपूर्ण उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ स्त्रियाँ केवल पारिवारिक और घरेलू दायित्वों से बाहर निकल कर समाज और संस्कृति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। जैसे गांधारी और कुंती के पात्र, जो न केवल अपने परिवार की रक्षिका थीं, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में भी अपनी उपस्थिति दर्ज कराती हैं। यही नहीं, गार्गी और मैत्रेयी जैसी विदुषियाँ तर्क और ज्ञान के क्षेत्र में पुरुषों के साथ बराबरी पर खड़ी होती हैं, जो दर्शाता है कि प्राचीन भारत में स्त्री को ज्ञान और बौद्धिक संवाद के लिए भी कुछ हद तक स्थान था।

दूसरी ओर, वेद, स्मृतियाँ और पुराण स्त्री को अधिकतर एक ऐसी सामाजिक इकाई के रूप में प्रस्तुत करते हैं जो पुरुष के अधीन होती है। मनुस्मृति जैसे ग्रंथ स्त्री के अधिकारों और स्वतंत्रता पर गंभीर प्रतिबंध लगाते हैं, और उसे एक ऐसी अस्तित्व के रूप में चित्रित करते हैं, जिसे पुरुष के नियंत्रण में रखा जाना चाहिए। यह समाज में स्त्री के प्रति गहरी असमानता और अन्याय का संकेत करता है, जहाँ वह केवल किसी परिवार या समाज के संपत्ति का हिस्सा मानी जाती है।

इस प्रकार, प्राचीन भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति को दो मुख्य दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है: एक ओर उसे पूजनीय और आदर्श माना जाता था, तो दूसरी ओर वह दबाव और दमन का शिकार भी थी। यह विरोधाभास न केवल धार्मिक और सांस्कृतिक धारा में देखा जाता है, बल्कि राजनीति, समाज और परिवार के ढाँचे में भी यह परिलक्षित होता है। स्त्री का स्थान भारतीय समाज में ऐतिहासिक रूप से सामाजिक परिवर्तनों के साथ बदलता रहा है, और प्रत्येक युग में उसकी भूमिका और अधिकारों को लेकर चिंतन और विचारों में भिन्नताएँ रही हैं।

प्राचीन काल में स्त्री की भूमिका केवल पारिवारिक या घरेलू नहीं थी, बल्कि वह कई बार युद्ध, राजनीति, समाज सुधार, और संस्कृति में सक्रिय रूप से भागीदार रही थी। उदाहरण स्वरूप, द्रौपदी का पात्र न केवल एक पत्नी, बल्कि एक संघर्षशील और आदर्श समाजिक नेता के रूप में सामने आता है। इसी प्रकार, आदमिनी जैसी ऐतिहासिक स्त्री पात्रों ने समाज में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई और आदर्श और अधिकार की पुनः परिभाषा दी।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति हमेशा एक गतिशील और परिवर्तनशील प्रक्रिया रही है। एक ओर जहाँ उसे अनेक सामाजिक, धार्मिक और वैचारिक बंधनों से जकड़ा गया था, वहीं दूसरी ओर उसने उन बंधनों को तोड़ने और अपने अधिकारों की पुनर्स्थापना के लिए निरंतर संघर्ष किया। यही संघर्ष और परिवर्तन आधुनिक भारत में भी स्त्रियों के अधिकारों और स्थिति के बारे में हमारे दृष्टिकोण को आकार देते हैं। प्राचीन भारतीय समाज की स्त्री एक ही समय में कई भूमिकाओं में बंधी हुई थी, लेकिन उसकी अस्मिता और स्वतंत्रता की तलाश हमेशा जारी रही है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. झा, डी. एन. (2002). एंशिएंट इंडियन सोसाइटी: ए क्रिटिकल स्टडी. मनोहर पब्लिशर्स।
2. चक्रवर्ती, उमा. (1993). द सोशल डाइमेंशंस ऑफ अर्ली बुद्धिज़म. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. बाशम, ए. एल. (1954). द वंडर दैट वज़ इंडिया. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
4. चौधुरी, स. (2005). रोल ऑफ विमेन इन द एंचिएंट इंडियन सोसाइटी. कावरी बुक पब्लिशर्स।
5. अल्तेकर, ए. एस. (1938). दि पोजीशन ऑफ वुमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, मोतीलाल बनारसीदास
6. राय, के. (संपादित) (2011). वुमेन इन अर्ली इंडियन सोसाइटीज़, मनोहर पब्लिशर्स
7. सिंह, उपिंदर. (2017). प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, ओरिएंट ब्लैकस्वान
8. थापर, रोमिला. (2002). दि हिस्ट्री ऑफ अर्ली इंडिया, पैंगविन
9. प्रसाद, ईश्वरी. (1980). प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला राजनीति, धर्म तथा दर्शन, इलाहाबाद

How to cite: How to cite: कुमार, ध. (2025). प्राचीन भारतीय धार्मिक ग्रंथों में स्त्री का स्थान और अधिकार: एक विश्लेषण. *Multidisciplinary Multilingual Research Journal,* 1(2), 1–6. https://doi.org/10.64006/mmrj/1201